शोध उत्कर्ष Shodh Utkarsh
A Peer Reviewed Refereed Multidisciplinary Quarterly International E-Journal
ISSN-2993-4648 Year/Volume: 04, Issue: 14 | April - June 2026 | Impact Factor: 4.5 Page – 96-99

आंतरिक पुनर्स्मरण: समकालीन जीवनशैली में चेतना के उत्कर्ष का विज्ञान

प्रो. सूरज प्रकाश गुप्ता
आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग
बी. आर. डी. बी. डी. पी. जी. कॉलेज
आश्रम बरहज, देवरिया, उत्तर प्रदेश

Received– 27June - 2026
Accepted-29 June- 2026
Published– 30 June 2026
Corresponding Author-
प्रो. सूरज प्रकाश गुप्ता-आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग
बी. आर. डी. बी. डी. पी. जी. कॉलेज आश्रम बरहज, देवरिया, उत्तर प्रदेश
DOI-https://doi.org/10.67275/SU.2026.041425
Funding Policy-
'Shodh Utkarsh' is an independent journal and receives no financial support or grant from any public, commercial, or not-for-profit organization.
वित्त पोषण नीति-
'शोध उत्कर्ष' एक स्वतंत्र पत्रिका है। इसे किसी भी सार्वजनिक, वाणिज्यिक या गैर-लाभकारी संगठन से कोई वित्तीय सहायता, अनुदान या फंडिंग प्राप्त नहीं होती है।
Copyright Notice -
© 2026 The Author(s). This work is licensed under a Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC-BY 4.0).
कॉपीराइट सूचना-
© २०२६ लेखक। यह कार्य क्रिएटिव कॉमन्स अ Attribution 4.0 इंटरनेशनल लाइसेंस (CC-BY 4.0) के अंतर्गत लाइसेंस प्राप्त है।

OPEN ACCESS
Shodh Utkarsh
CC-BY 4.0

सारांश:- प्रस्तुत शोध-पत्र समकालीन जीवनशैली की विसंगतियों- मानसिक तनाव, क्षोभ (बर्नआउट) तथा 'स्वयं से अलगाव' के संदर्भ में मानव चेतना के उत्कर्ष का दार्शनिक एवं व्यावहारिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य को ऐसी निरंतर 'ट्रेडमिल' पर स्थापित कर दिया है, जहाँ बाह्य उपलब्धियों की दौड़ के बावजूद आंतरिक संतोष का अभाव बना रहता है। इस समस्या के समाधान हेतु शोध में श्री अरविन्द के 'समग्र योग' और परमहंस योगानंद के 'क्रियायोग' का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। जहाँ समग्र योग 'अतिमानस' के अवतरण द्वारा चेतना के रूपांतरण पर बल देता है, वहीं क्रियायोग प्राण-शक्ति के वैज्ञानिक नियंत्रण के माध्यम से शरीर-मन के 'आंतरिक स्विचबोर्ड' को संतुलित करने की प्रक्रिया प्रस्तुत करता है। शोध-पत्र यह प्रस्तुत करता है कि आधुनिक मानसिक अशांति का मूल कारण किसी बाह्य वस्तु का अभाव नहीं, बल्कि 'स्वयं से दूरी' है। अतः समाधान बाह्य संसाधनों में नहीं, बल्कि ऊर्जा के अंतर्मुखी प्रवाह और आत्म-स्मृति ; (Recollection) में निहित है। प्रदत्त अध्ययन द्वारा यह भी स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए संसार का त्याग आवश्यक नहीं, बल्कि चेतना का आंतरिक रूपांतरण अपेक्षित है। अंततः, 'खंडित' दृष्टि से 'समग्र' दृष्टि की ओर यह यात्रा व्यक्तिगत शांति को वैश्विक कल्याण में रूपांतरित करने की क्षमता रखती है।

प्रमुख शब्द (Keywords): योग, समग्र योग, क्रियायोग, मानव चेतना, आत्म-साक्षात्कार, स्वयं से अलगाव, आधुनिक जीवनशैली, आंतरिक पुनर्स्मरण।

शारीरिक समस्याओं के संदर्भ में निदान और उपचार की प्रक्रिया सामान्यतः स्पष्ट और व्यवस्थित होती है। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति की हड्डी में फ्रैक्चर होता है, तो वह चिकित्सक के पास जाकर एक्स-रे परीक्षण कराता है। इस परीक्षण के माध्यम से समस्या का स्थान स्पष्ट रूप से दिखाई देता है और उसी आधार पर उपचार निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार, शारीरिक स्थितियों में समस्या और समाधान दोनों प्रत्यक्ष, मापनीय और तार्किक होते हैं। यही कारण है कि इस प्रकार की स्थितियाँ व्यक्ति को अधिक आश्वस्त करती हैं, क्योंकि वह उन्हें देख और समझ सकता है। हालाँकि, यह स्पष्टता मानसिक थकान, आंतरिक अशांति, क्षोभ जैसी स्थितियों में नहीं मिलती। इन अवस्थाओं में व्यक्ति तनाव, बेचैनी या खालीपन का अनुभव तो करता है, परंतु उसके कारणों को उसी प्रकार पहचान नहीं पाता। यहाँ कोई ऐसा उपकरण प्रतीत नहीं होता जो यह स्पष्ट कर सके कि यह असंतुलन कहाँ से उत्पन्न हो रहा है। परिणामस्वरूप, यह समस्या अधिक जटिल और अस्पष्ट हो जाती है। वर्तमान समय में यही अस्पष्टता एक प्रमुख चुनौती के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित है। इस संदर्भ में आवश्यक है कि इस आंतरिक स्थिति को समझने के लिए एक अनुप्रयोगात्मक (Applied) दृष्टिकोण विकसित किया जाए, जो केवल सैद्धांतिक न होकर व्यावहारिक स्तर पर भी उपयोगी हो। इस शोध-पत्र का उद्देश्य इसी दिशा में एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है, जो मानसिक तनाव और अस्तित्वगत संकट के मूल कारणों की पहचान कर सके और उनके समाधान के लिए व्यवहारिक मार्गदर्शन प्रदान कर सके। यहाँ 'योग' को केवल शारीरिक अभ्यास के रूप में न देखकर, एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में समझना आवश्यक है, जो व्यक्ति की चेतना, उसकी प्रवृत्तियों और उसके आंतरिक संतुलन को व्यवस्थित करती है।

आधुनिक युग में, जहाँ तकनीकी और भौतिक सुविधाएँ अत्यधिक विकसित हो चुकी हैं, वहीं मानसिक असंतोष और आंतरिक तनाव भी समानांतर रूप से बढ़े हैं। इसका एक प्रमुख कारण तृष्णायुक्त उपभोक्तावादी जीवनशैली है, जिसमें व्यक्ति की ऊर्जा मुख्यतः बाहरी उपलब्धियों, उपभोग और सामाजिक मान्यता की ओर केंद्रित हो जाती है। इस स्थिति में व्यक्ति निरंतर सक्रिय रहता है, परंतु उसकी गतिविधियाँ आंतरिक संतोष की ओर न जाकर बाहरी प्राप्तियों तक सीमित रह जाती हैं। इस स्थिति को 'ट्रेडमिल' के उदाहरण से समझा जा सकता है, जहाँ व्यक्ति निरंतर दौड़ता है, परंतु वास्तविक रूप से आगे नहीं बढ़ता। इसी प्रकार, आधुनिक जीवन में व्यक्ति निरंतर प्रयास करता है, परंतु उसे संतोष की अनुभूति नहीं होती। इस दृष्टि से 'बर्नआउट' (क्षोभ) को केवल अधिक कार्य करने का परिणाम न मानकर, एक ऐसी स्थिति के रूप में समझना अधिक उपयुक्त होगा, जिसमें प्रयास और परिणाम के बीच अर्थपूर्ण संबंध स्थापित नहीं हो पाता। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि इस समस्या को केवल आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण तक सीमित न रखकर, वैदिक एवं पारंपरिक भारतीय चिंतन के संदर्भ में भी देखा जाए, ताकि इसके मूल कारणों को अधिक व्यापक रूप से समझा जा सके और एक संतुलित एवं व्यवहारिक समाधान प्रस्तुत किया जा सके।

शोध उत्कर्ष Shodh Utkarsh
A Peer Reviewed Refereed Multidisciplinary Quarterly International E-Journal
ISSN-2993-4648 Year/Volume: 04, Issue: 14 | April - June 2026 | Impact Factor: 4.5 Page – 96-99

वैदिक संस्कृति में मानव मनोविज्ञान का अत्यंत गूढ़ और संतुलित विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस संदर्भ में जीवन को चार आश्रमों- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में विभाजित किया गया था, जो मानव जीवन के विभिन्न आयामों को संतुलित रूप से विकसित करने का एक संरचनात्मक रूपरेखा प्रदान करता है। विशेष रूप से ध्यान देने योग्य तथय यह है कि इस व्यवस्था में जीवन का केवल एक भाग अर्थात् गृहस्थ आश्रम, ही भौतिक उत्तरदायित्वों, आजीविका और सामाजिक दायित्वों के निर्वहन के लिए निर्धारित था, जबकि शेष जीवन-काल का बड़ा हिस्सा आत्म-विकास, आत्म-बोध और आध्यात्मिक उन्नति के लिए नियोजित था। इस प्रकार, वैदिक दृष्टिकोण में जीवन का केंद्र केवल बाह्य उपलब्धियाँ न होकर आंतरिक विकास स्वीकारा गया था। इस व्यवस्था के पीछे यह गहरी समझ निहित थी कि यदि मनुष्य अपनी समस्त ऊर्जा केवल बाह्य संसार अर्थात् भौतिक उपार्जन, उपभोग और सामाजिक प्रतिस्पर्धा में व्यय करेगा, तो वह धीरे-धीरे स्वयं से ही विच्छिन्न हो जाएगा। यह 'स्वयं से दूरी' ही अंततः मानसिक अशांति, असंतोष और अस्तित्वगत संकट का कारण बनती है। इसके विपरीत, समकालीन जीवन-पद्धति में देखा जाता है कि मनुष्य ने जीवन के उस सीमित भौतिक पक्ष को ही संपूर्ण जीवन का पर्याय बना लिया है। परिणामस्वरूप, जीवन का संतुलन भंग हो गया है और आंतरिक शून्यता तथा तनाव की अनुभूति व्यापक रूप से उभर रही है। इस परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक अशांति का मूल कारण 'स्वयं से अलगाव' है। जब व्यक्ति **अपने अस्तित्व को केवल शरीर,** भौतिक संसाधनों या सामाजिक पहचान तक सीमित कर देता है, तब वह शांति और संतोष की खोज बाह्य जगत में करने लगता है, जबकि यह अनुभूति मूलतः आंतरिक होती है। यही कारण है कि बाहरी उपलब्धियों के बावजूद वह संतुष्टि प्राप्त नहीं कर पाता। अतः यदि समस्या का मूल 'वियोग' है, तो उसका समाधान 'योग' में ही निहित होना चाहिए।

यहाँ 'योग' की अवधारणा को समझना आवश्यक है। 'योग' शब्द संस्कृत के 'युज्' धातु से बना है, जिसका सामान्य अर्थ 'जोड़ना' माना जाता है। इसी संदर्भ में योगानन्द जी ने कहा है कि "हमें लगता है कि हम अपने परमपिता से पृथक हो गए हैं, और हमें चेतन रूप से उनके साथ पुनः एक होना है। योग हमें इस वियोग के भ्रम से ऊपर उठने और ईश्वर के साथ अपने एकत्व को अनुभव करने की विधि सिखाता है।" सामान्य दृष्टि से विचार करने पर, यदि योग का अर्थ 'जोड़ना' ही है, तो यहाँ एक महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि मनुष्य का अस्तित्व मूलतः उसी परम चेतना का अंश है (जैसा कि भारतीय योग परम्परा इसे अभिव्यक्त या स्वरबद्ध करती है), तो वह उससे पुनः 'जुड़' कैसे सकता है, जबकि वह कभी उससे वास्तव में अलग हुआ ही नहीं? इस प्रतीत होने वाले विरोधाभास को आदि शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन के आलोक में समझा जा सकता है। अद्वैत वेदांत के अनुसार, जीव और ब्रह्म के मध्य कोई वास्तविक भेद नहीं है; यह भेद केवल अज्ञान (अविद्या) के कारण प्रतीत होता है। इस दृष्टि से "मोक्ष किसी अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति नहीं है; मोक्ष आत्मभाव है जो सदा प्राप्त है।" अतः योग का उद्देश्य किसी नई वस्तु की प्राप्ति या किसी बाहरी सत्ता से वास्तविक 'संयोग' स्थापित करना नहीं है। इसके विपरीत, योग एक ऐसी आंतरिक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से यह अज्ञान दूर होता है और व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप का बोध करता है। सरल रूप में कहें तो योग किसी भौतिक या बाह्य 'जोड़' की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह चेतना के स्तर पर अज्ञान के निवारण और आत्म-साक्षात्कार की एक विधि है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने मूल स्वरूप जो कि सदैव से पूर्ण और अखंड है का अनुभव करता है।प्रश्न यह उठता है कि यह अज्ञान किस सत्य के प्रति है? अद्वैत वेदांत के अनुसार, यह अज्ञान इस मूल भ्रांति का है कि मनुष्य स्वयं को परम सत्ता से पृथक मानता है। वस्तुतः, योग का उद्देश्य किसी नये बाह्य संबंध की स्थापना नहीं है, बल्कि उस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव करना है कि मनुष्य सदैव से ही उस परम चेतना का अभिन्न अंग है। इस दृष्टि से योग कोई बाह्य यात्रा नहीं, बल्कि एक आंतरिक बोध (Realization) की प्रक्रिया है। इस अवधारणा को समकालीन संदर्भ में समझने के लिए 'एयरप्लेन मोड' का उदाहरण उपयोगी हो सकता है। यदि एक आधुनिक स्मार्टफोन में सभी नेटवर्क क्षमताएँ अंतर्निहित होते हुए भी वह एयरप्लेन मोड पर है, तो वह बाह्य संपर्क से वंचित प्रतीत होता है। किंतु वास्तव में न तो उसके हार्डवेयर में कोई कमी है और न ही नेटवर्क का अभाव है; केवल एक सेटिंग उसे सीमित कर रही है। इसी प्रकार, योग किसी बाहरी साधन को जोड़ने की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि उस 'एयरप्लेन मोड' को निष्क्रिय करने जैसा है, जो अज्ञान के रूप में कार्य करता है। इसी तथय को एक अन्य दार्शनिक उदाहरण- लहर और समुद्र के माध्यम से भी समझा जा सकता है। यदि लहर यह मान ले कि उसका अस्तित्व समुद्र से पृथक है, तो यह उसकी भ्रांति है। वास्तव में लहर का अस्तित्व समुद्र से अलग नहीं हो सकता, क्योंकि उसका संपूर्ण स्वरूप उसी जल से निर्मित है। अतः उसे समुद्र से 'जुड़ने' की आवश्यकता नहीं है, बल्कि केवल इस सत्य का बोध करना है कि वह स्वयं समुद्र का ही रूप है। इसी प्रकार, योग उस बोध का नाम है जिसमें व्यक्ति अपनी वास्तविक एकात्मता का अनुभव करता है। इस आधार पर यह स्पष्ट होता है कि योग केवल एक सैद्धांतिक या दार्शनिक अवधारणा नहीं है, बल्कि एक व्यवस्थित और व्यावहारिक प्रक्रिया है। संस्कृत व्याकरण की परंपरा में, विशेषतः पाणिनि द्वारा प्रतिपादित 'युज्' धातु के तीन अर्थ- 'युजिर योगे' (संयोजन), 'युज् समाधौ' (चित्त की स्थिरता) और 'युज् संयमने' (इंद्रिय-नियंत्रण) इस प्रक्रिया के विभिन्न आयामों को प्रकट करते हैं। साथ ही, मुख्य रूप से ये तीनों योग की साधना-पद्धति का संकेत देते हैं, जो व्यक्ति को आत्मानुभूति के अंतिम स्तर तक ले जाती है।

प्राचीन ग्रंथों में भी योग की व्याख्या इसी मूल तत्त्व को विभिन्न दृष्टियों से स्पष्ट करती है। कठोपनिषद् में योग के सन्दर्भ में केहा गया है कि जब पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन पूर्णतः शान्त तथा बुद्धि की समस्त गतिविधियाँ स्वतः स्थिर हो जाती है; वही सर्वोच्च आध्यात्मिक अवस्था है। इसे ही योग के रूप में जाना जाता है, जो इन्द्रियों के नियंत्रण पर आधारित है। इस अवस्था में जागरूक रहने की आवश्यकता है, क्योंकि योग की सिद्धि के पूर्व मन का निग्रह दुरूह कार्य है और इस निग्रह की प्राप्ति को ही योग के रूप में परिभाषित किया गया है।[3] इसी प्रकार पतंजलि अपने योगसूत्र में योग को "चित्तवृत्ति निरोध"[4] (Recollection) के रूप में परिभाषित करते हैं, जिसका अभिप्राय मन की चंचल वृत्तियों का निरोध करना है। वहीं भगवद्गीता योग को अधिक व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करती है, जहाँ "समत्वम् योग उच्यते"[5] के माध्यम से समभाव को तथा "योगः कर्मसु कौशलम्"[6] के द्वारा कर्म में कुशलता को योग का स्वरूप बताया गया है। योगवासिष्ठ नामक ग्रंथ में योग शब्द के भेद एवं व्यापकता को स्पष्ट करते हुए, महर्षि वसिष्ठ निर्वाण प्रकरण में श्रीराम से कहते हैं कि हे योगी पुरूष राम! इस संसार रूपी सागर से पार होने (उतरने) की युक्ति (उपाय) ही योग है। गुरु वसिष्ठ आगे कहते हैं कि चित्त का विलय करने वाला यह उपाय दो प्रकार का है, जिसमे प्रथम आत्मज्ञान (सामान्यतः जो संसार में प्रसिद्ध है) तथा द्वितीय प्राणनिरोध है।[7] हठयोग प्रदीपिका में नमक के जल में पूर्णतः विलीन हो जाने की उपमा दी गई है।[8] यह आत्मानुभूति की चरम अवस्था को व्यक्त करता है, जहाँ साधक और साध्य के बीच का भेद समाप्त हो जाता है। इस प्रकार, विभिन्न ग्रंथों और परंपराओं में भिन्न-भिन्न शब्दावली के माध्यम से एक ही मूल तत्त्व की व्याख्या की गई है, जो यह इंगित करता है कि योग एक सुसंगत, वैज्ञानिक एवं अनुभवपरक प्रक्रिया है, जिसका उद्देश्य अज्ञान का निवारण और आत्मस्वरूप की प्रत्यक्ष अनुभूति है। पुनः प्रश्न उठता है कि उक्त समस्त परिभाषाओं तथा साधना-पद्धतियों का अंतिम लक्ष्य क्या है और व्यक्ति को इस दिशा में प्रयास क्यों करना चाहिए? भारतीय दार्शनिक परंपरा के अनुसार, इन सभी साधनाओं का मूल उद्देश्य मनुष्य को त्रिविध दुःखों से मुक्त करना है। इन दुःखों को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक श्रेणियों में विभाजित किया गया है, जो

शोध उत्कर्ष Shodh Utkarsh
A Peer Reviewed Refereed Multidisciplinary Quarterly International E-Journal
ISSN-2993-4648 Year/Volume: 04, Issue: 14 | April - June 2026 | Impact Factor: 4.5 Page – 96-99

क्रमशः आंतरिक संघर्षों, बाह्य भौतिक परिस्थितियों तथा अप्रत्याशित प्राकृतिक या दैवीय कारकों से संबंधित हैं। यह वे आयाम हैं जिन पर मनुष्य का प्रत्यक्ष नियंत्रण सम्भवतः सीमित होता है। हालाँकि, योग का लक्ष्य इन दुःखों को बाह्य स्तर पर पूर्णतः समाप्त करना नहीं है, बल्कि व्यक्ति की चेतना को इस स्तर तक विकसित करना है, जहाँ ये दुःख उसे आंतरिक रूप से विचलित न कर सकें। अर्थात् बाह्य परिस्थितियाँ यथावत् बनी रह सकती हैं किन्तु साधक की आंतरिक स्थिति स्थिर, संतुलित और अविचल बनी रहती है। इस अवस्था को इस प्रकार समझा जा सकता है कि बाहरी तरंगें उत्पन्न होती रहें, परंतु भीतर का 'समुद्र' शांत बना रहे। समस्या तब जटिल हो जाती है जब इन सिद्धांतों को समकालीन जीवन में लागू करने का प्रश्न उठता है। वर्तमान समय में, जहाँ निरंतर सूचना-प्रवाह, डिजिटल व्यस्तता और मानसिक उत्तेजनाएँ विद्यमान हैं, वहाँ इस आंतरिक संतुलन को स्थापित करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य प्रतीत होता है। ऐसे में यह आवश्यक हो जाता है कि प्राचीन सिद्धांतों को आधुनिक संदर्भ में व्यावहारिक रूप में समझा जाए। इस संदर्भ में आधुनिक भारतीय चिंतन के दो प्रमुख मार्गदर्शक व्यक्तित्व श्री अरविन्द और परमहंस योगानंद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दोनों ने योग को केवल दार्शनिक अवधारणा के रूप में नहीं, बल्कि एक व्यवहारिक साधना-पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया। यहाँ सर्वप्रथम श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित 'समग्र योग' (Integral Yoga) का विश्लेषण प्रासंगिक है। श्री अरविन्द का दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक, समग्र और समावेशी है। वे योग को संसार से पलायन का माध्यम नहीं मानते, बल्कि जीवन के मध्य में रहकर चेतना के उत्कर्ष का साधन मानते हैं। उनके अनुसार परम सत्य 'सच्चिदानंद' है, किंतु मनुष्य सामान्यतः जिस 'मन'(Mind) के स्तर पर कार्य करता है, वह सीमित और विभाजित दृष्टि से युक्त होता है। यह मन वस्तुओं को खंडित रूप में देखता है- जैसे 'मेरा-तेरा', 'सही-गलत' और यही विभाजनकारी दृष्टि दुःखों का मूल कारण बनती है। इस स्थिति को आधुनिक शब्दावली में इस प्रकार समझा जा सकता है कि मनुष्य का सामान्य मन वास्तविकता को स्पष्ट रूप में नहीं, बल्कि 'पिक्सलेटेड' या खंडित रूप में देखता है। इसके विपरीत, श्री अरविन्द 'अतिमानस'(Supermind) की संकल्पना प्रस्तुत करते हैं, जो चेतना का एक उच्चतर स्तर है। यह कोई बाह्य तत्व नहीं, बल्कि मानव चेतना के विकास की अगली अवस्था है। जब साधक योग के माध्यम से इस स्तर तक पहुँचता है, तो उसकी दृष्टि समग्र (Integral) हो जाती है और वह वास्तविकता को एकीकृत एवं स्पष्ट रूप में अनुभव करता है। समग्र योग केवल व्यक्तिगत मुक्ति तक सीमित नहीं है। इसका व्यापक लक्ष्य उस उच्चतर चेतना को भौतिक जीवन में अभिव्यक्त करना है, जिससे संपूर्ण मानवता के विकास की प्रक्रिया को गति मिल सके। श्री अरविन्द के शब्दों में, "हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत रूप से आनन्द पाना नही है, बल्कि हमारा उद्देश्य है दिव्य आनन्द को- ईसा के स्वर्गीय राज्य को, हमारे सत्ययुग को- पृथवी पर उतार लाना।" इस दृष्टिकोण को एक 'टॉप-डाउन' प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है, जहाँ उच्चतर चेतना का अवतरण निम्नतर भौतिक स्तर पर होता है। यहाँ यह भी तथय स्मरणीय है कि श्री अरविन्द ने केवल अवतरण ही नहीं, अपितु विकास और प्रतिविकास दोनों ही अवधारणा को समान रूप से प्रतिपादित किया है। इस प्रकार, श्री अरविन्द का समग्र योग व्यक्तिगत परिवर्तन के साथ-साथ सामूहिक चेतना के उत्कर्ष का भी एक सशक्त साधन प्रस्तुत करता है।

यदि हम दूसरे दृष्टिकोण पर विचार करें और परमहंस योगानंद द्वारा प्रतिपादित क्रियायोग का विश्लेषण करें, तो यह स्पष्ट होता है कि उनका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक अनुप्रयोगात्मक, शारीरिक एवं वैज्ञानिक आधार पर स्थापित है। जहाँ श्री अरविन्द चेतना के व्यापक और वैश्विक विकास की बात करते हैं, वहीं योगानंद का क्रियायोग मुख्यतः व्यक्ति के शरीर, विशेषतः श्वास-प्रक्रिया और तंत्रिका-तंत्र (Nervous system) पर केंद्रित है। "क्रिया योग एक सरल मनः कायिक प्रणाली है जिसके द्वारा मानव-रक्त कार्बन रहित होकर आक्सीजन से प्रपूरित हो जाता है। इस अतिरिक्त आक्सीजन के अणु प्राण -धारा में रूपान्तरित हो जाते हैं, जो मस्तिष्क और मेरुदण्ड के चक्रों में नवशक्ति का संचार कर देती है।" इस प्रकार, इसे 'बॉटम-अप' ; दृष्टिकोण के रूप में समझा जा सकता है, जिसमें साधना की प्रक्रिया शरीर और प्राण के स्तर से प्रारंभ होकर चेतना के उच्चतर स्तरों की ओर अग्रसर होती है। क्रियायोग, जैसा कि योगदा सत्संग सोसाइटी एवं सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप द्वारा सिखाया जाता है, प्राण या जीवन-ऊर्जा के नियंत्रण पर आधारित एक व्यवस्थित वैज्ञानिक प्रविधि (तकनीक) है। इसमें विशेष साधना-पद्धतियों के माध्यम से प्राण को रीढ़ के माध्यम से ऊपर और नीचे संचालित किया जाता है। इस प्रक्रिया का उद्देश्य उस ऊर्जा-प्रवाह को पुनर्निर्देशित करना है, जो सामान्यतः बाह्य विषयों की ओर 'अधोगामी' रूप में प्रवाहित होता है। मेरी दृष्टि में, रीढ़ और मस्तिष्क मानव चेतना के केन्द्रीय तंत्र ; के रूप में कार्य करते हैं। जब साधक सचेत रूप से प्राण को ऊपर की दिशा में (उर्ध्वगामी) प्रवाहित करता है, तो इसका प्रत्यक्ष प्रभाव तंत्रिका-तंत्र पर पड़ता है, जिससे मानसिक अशांति, तनाव और अनियंत्रित प्रतिक्रियाओं में कमी आती है। यह प्रक्रिया शारीरिक-मानसिक ; व आध्यात्मिक स्तरों पर परिवर्तन लाती है। परिणामस्वरूप, व्यक्ति की वह स्वचालित प्रवृत्ति, जो उसे तनाव या चिंता की स्थिति में शीघ्र प्रतिक्रिया करने के लिए प्रेरित करती है, क्रमशः नियंत्रित और संतुलित होने लगती है। इस प्रकार, एक ओर श्री अरविन्द चेतना के उत्कर्ष को 'अतिमानस' के स्तर तक विकसित करने की बात करते हैं; वहीं दूसरी ओर योगानंद जी के क्रियायोग में शरीर और प्राण के माध्यम से चेतना का परिष्कार किया जाता है। यद्यपि ये दोनों दृष्टिकोण पद्धति के स्तर पर भिन्न प्रतीत होते हैं, तथापि इनके लक्ष्य में मूलभूत एकता विद्यमान है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो दोनों ही विचारधाराएँ इस तथय पर बल देती हैं कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए संसार का परित्याग आवश्यक नहीं है। व्यक्ति अपने दैनंदिन जीवन, पारिवारिक उत्तरदायित्वों और सामाजिक भूमिकाओं का निर्वहन करते हुए भी आंतरिक संतुलन और शांति की प्राप्ति कर सकता है। यह विशेष रूप से समकालीन समाज और युवाओं के लिए एक महत्वपूर्ण और व्यावहारिक संदेश प्रस्तुत करता है। अंततः, इन दोनों दृष्टिकोणों का सार यह है कि समस्या बाह्य परिस्थितियों में नहीं, बल्कि ऊर्जा की दिशा और चेतना की अवस्था में निहित है। जब व्यक्ति अपनी ऊर्जा को बाह्य उपभोग और निरंतर दौड़ से हटाकर आंतरिक जागरूकता की ओर मोड़ता है, तब वह अपने अस्तित्व की व्यापकता का अनुभव करने लगता है। इस अनुभूति में व्यक्ति स्वयं को किसी एक सीमित पहचान तक सीमित न मानकर, एक व्यापक समग्रता का हिस्सा अनुभव करता है। ऐसी अवस्था में असुरक्षा, अवसाद और क्षोभ (बर्नआउट) जैसी समस्याएँ स्वाभाविक रूप से क्षीण होने लगती हैं और व्यक्ति एक स्थायी आंतरिक शांति की ओर अग्रसर होता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि योग का अर्थ केवल शारीरिक व्यायाम, आसनों का अभ्यास या बाह्य प्रदर्शन नहीं, अपितु यह एक गूढ़ और सुव्यवस्थित आंतरिक विज्ञान है। यह विज्ञान उस मानसिक और अस्तित्वगत उलझन से बाहर निकलने का एक सुसंगत मार्ग प्रस्तुत करता है, जिसमें समकालीन मनुष्य स्वयं को विखंडित, अकेला और असंतुलित अनुभव करता है। इस संदर्भ में, श्री अरविन्द और परमहंस योगानंद के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण यह स्पष्ट करते हैं कि इस आंतरिक 'वियोग' की अनुभूति को कैसे समाप्त किया जा सकता है, चाहे वह चेतना के उत्कर्ष के माध्यम से हो अथवा प्राण-ऊर्जा प्रवाह के संतुलन के माध्यम से। दोनों ही मार्ग इस तथय की ओर संकेत करते हैं कि मनुष्य का मूल स्वरूप सीमित नहीं, बल्कि व्यापक, समग्र और अखंड है। इस प्रकार, 'एयरप्लेन मोड' का उदाहरण यह समझने में सहायक है कि समस्या किसी बाहरी संसाधन के अभाव की नहीं, बल्कि आंतरिक अवरोध की है। इसी प्रकार 'लहर और समुद्र' का उदाहरण यह स्पष्ट करता है कि जो भिन्नता हमें अनुभव होती है, वह वास्तविक नहीं, बल्कि अनुभूति का भ्रम है।

शोध उत्कर्ष Shodh Utkarsh
A Peer Reviewed Refereed Multidisciplinary Quarterly International E-Journal
ISSN-2993-4648 Year/Volume: 04, Issue: 14 | April - June 2026 | Impact Factor: 4.5 Page – 96-99

मनुष्य बाह्य रूप से भले ही सीमित इकाई के रूप में दिखाई देता हो, किंतु उसके अस्तित्व का अंतिम सत्य व्यापक समग्रता से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। अतः प्रारंभ में उल्लिखित 'ट्रेडमिल' का उदाहरण यहाँ पुनः प्रासंगिक हो उठता है। आधुनिक जीवन की यह निरंतर और तीव्र दौड़, जिसमें व्यक्ति स्वयं को सिद्ध करने और पहचान बनाने के प्रयास में निरंतर संलग्न रहता है, अंततः एक गंभीर प्रश्न की ओर संकेत करती है। यदि मनुष्य का मूल स्वरूप पहले से ही पूर्ण, शांत और उस परम सत्य से अभिन्न है, तो क्या यह समस्त बाह्य प्रयत्न स्वयं को खोजने और स्थापित करने की यह अनवरत् चेष्टा वास्तव में एक प्रकार की आत्म-प्रवंचना ; नहीं है? संभवतः यह विचार असहज प्रतीत हो, परंतु यही प्रश्न इस विमर्श का केंद्रीय बिंदु है। यह भी संभव है कि बाह्य जगत में शांति, पहचान और संतोष की हमारी निरंतर खोज हमें अपने ही वास्तविक स्वरूप से और अधिक दूर ले जा रही हो। इस दृष्टि से, यह कहा जा सकता है कि समस्या का समाधान किसी नई उपलब्धि में नहीं, बल्कि एक अंतर्निहित पुनर्स्मरण में निहित है अर्थात् उस सत्य के पुनर्बोध में, जो सदैव से विद्यमान है।

निष्कर्षतः, आंतरिक जागरण व पुनर्स्मरण का पहला और सबसे महत्वपूर्ण कदम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं से यह मूल प्रश्न करे: "क्या हम पहले से ही उस शांति के स्वरूप हैं, जिसकी हम बाह्य जगत में खोज कर रहे हैं?" यही प्रश्न, वास्तव में, उस 'एयरप्लेन मोड' को निष्क्रिय करने की प्रारंभिक कुंजी के रूप में कार्य करता है, जो मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप से पृथक होने का भ्रम उत्पन्न करता है। मेरी दृष्टि में, उक्त शोध-पत्र का केंद्रीय प्रतिपाद्य यह है कि योग केवल शारीरिक व्यायाम नहीं, बल्कि एक सुव्यवस्थित आंतरिक विज्ञान है, जो मनुष्य को 'विखंडित' बोध से मुक्त कर 'समग्रता' की ओर उन्मुख करता है। समकालीन अशांति का मूल कारण बाह्य परिस्थितियाँ नहीं, बल्कि वह आंतरिक अवस्था है, जिसमें मनुष्य अपनी अनंत क्षमताओं से अनभिज्ञ रहकर स्वयं को सीमित अनुभव करता है। इस संदर्भ में श्री अरविन्द और योगानंद जी की पद्धतियाँ स्पष्ट करती हैं कि समस्या का मूल ऊर्जा के प्रवाह की दिशा में निहित है; जब चेतना अंतर्मुखी होती है, तब 'लहर और समुद्र' के अद्वैत संबंध की भाँति मनुष्य अपनी पूर्णता का साक्षात्कार करता है। अतः यह यात्रा किसी नवीन उपलब्धि की नहीं, बल्कि 'पुनः स्मरण' की प्रक्रिया है; यह बोध कि हम पहले से ही उस शांति के स्वरूप हैं, जिसकी हम बाह्य जगत में खोज करते हैं। इस प्रकार, यह निष्कर्ष व्यक्तिगत शांति और वैश्विक कल्याण के मध्य एक सुदृढ़ सेतु स्थापित करता है।

******

संदर्भ :-

1. योगानन्द, श्री श्री परमहंस: मानव की निरन्तर खोज, योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया, कोलकाता, 2018 पृ0 - 14
2. शर्मा, चन्द्रधर - भारतीय दर्शन: आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 2013 पृ0 - 258
3. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।। तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।। कठोपनिषद्: अध्याय 2, वल्ली 3, मंत्र 10-11
4. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र, 1/2
5. योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। श्रीमद्भगवद्गीता, 2/48
6. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। श्रीमद्भगवद्गीता, 2/50
7. संसारोत्तरणे युक्तिर्या ेगशब्देन कथ्यते। तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तोपशमधर्मिणीम्।। आत्मज्ञानं प्रकारोऽस्या एकः प्रकटितो भुवि। द्वितीयः प्राणसंरोधः शृणु योऽयं मयोच्यते।। योगवासिष्ठ: निर्वाण प्रकरण, पूर्वार्ध - 6/13/3-4
8. सलिलै सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः। तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते।। हठयोग प्रदीपिका, 4/5
9. श्रीअरविन्द: हमारा योग और उसके उद्देश्य, अनु0 चन्द्रदीप, श्री अरविन्द आश्रम पॉण्डिचेरी, 2015 पृ0-01
10. योगानन्द, परमहंस: योगी कथामृत, योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया, कोलकाता, 2019 पृ0 - 332-33